नाद-नर्तन
जर्नल ऑफ डांस एण्ड म्यूजिक
ISSN: 2349-4654
वर्ष : 14, अंक : 1, जनवरी 2026

भरत का पूर्वरंग विधान और संगीत

डॉ. गुंजन कुमार झा
सहायक प्रोफ़ेसर, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सार-संक्षेप

भारतीय नाट्य परंपरा का आधार वस्तुतः प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में निहित है। विशेष रूप से नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्य सिद्धांत। इन नाट्य सिद्धांतों ने भारतीय रंगमंच की संरचना, प्रस्तुति और भारतीय सौन्दर्यशास्त्र को गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित पूर्वरंग विधान भारतीय रंग परंपरा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है जिस पर शोधपरक दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता लगातार बनी हुई है। पूर्वरंग विधान से आशय उस अनुष्ठानिक एवं सांगीतिक प्रक्रिया से है जो नाटक के वास्तविक आरम्भ से पहले मंच पर संपन्न की जाती थी। इसका उद्देश्य केवल दर्शकों का मनोरंजन करना और उन्हें नाटक देखने के लिए मानसिक तौर पर तैयर करना ही नहीं था अपितु देवताओं की स्तुति, मंच कि शुद्धि, वातावरण की तैयारी और कलाकारों की मानसिक-आध्यात्मिक तयारी भी था। यह इस बात का संकेत है कि भारतीय रंगमंच केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक और धार्मिक अनुष्ठान भी है। इस शोध का उद्देश्य भरत के पूर्वरंग विधान के स्वरूप, उसके सांस्कृतिक–शोधात्मक महत्त्व तथा भारतीय परम्परा में उसकी भूमिका का सम्यक विश्लेषण करना है। इस अध्ययन की परिकल्पना यह है कि पूर्वरंग विधान केवल एक प्रस्तावना नहीं अपितु एक सुविचारित सांस्कृतिक संरचना का स्वरूप है जिसने नाट्य-प्रस्तुति की विधि और प्रकृति को दीर्घकाल तक दिशा प्रदान करने का काम किया। इस अध्ययन में मुख्यतः ऐतिहासिक एवं विश्लेष्णात्मक शोध-विधि का प्रयोग किया जाएगा. इस शोध का संभावित निष्कर्ष यह स्पष्ट कर सकेगा कि भरत का पूर्वरंग विधान केवल एक प्रारंभिक रंग तत्व अथवा कर्म नहीं अपितु यह भारतीय रंगबोध की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि का प्रतीक है जो मंच और दर्शक के बीच विशेष वातावरण की निर्मिती कर उन्हें जोड़ने का काम करता है। प्रकारांतर से यह भी स्थापित हो सकेगा भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता, संगीत से किस तरह अनुस्यूत है।

मुख्य शब्द : नाट्यशास्त्र, संगीत, नाट्य, पूर्वरंग, परम्परा

शोध-पत्र

गीत एवं संगीत की दृष्टि से भरत का पूर्वरंग विधान बहुत महत्त्वपूर्ण है। भरत के पूर्वरंग का संपूर्ण विधान संगीत से सम्बद्ध है। भरत ने पूर्वरंग विधान की गतियों और विधियों का इतना सूक्ष्म विवरण किया गया है कि कई बार यह पूरा विषय ही जटिल हो उठता है। कुल मिलाकर पूर्वरंग यों अपने आप में एक पेचीदे कर्मकांड की तरह नजर आता है किंतु गहन अध्ययन के पश्चात उसका सरलीकृत रूप जब सामने आता है तब लगता है कि पूर्वरंग विधान वास्तव में सम्पूर्ण भारतीय नाट्य-परंपरा की जातीय पहचान कराने वाला विधान है जो किसी ना किसी रूप में लोकनाट्यों से लेकर मुख्यधरा के नाटकों तक में आज भी विद्यमान है। नाट्य को आरंभ करने से पूर्व संगीत का इसी प्रकार का प्रयोग खुले मैदान में किए जाने वाले नाटकों में तथा बंगाल की यात्रा आदि के प्रसंगों में आज भी किया जाता है। (घोष, 15) दक्षिण भारत में उपलब्ध कथकली नाट्य के कतिपय प्रकारों में भी पूर्वरंग के प्रायः सभी उपर्युक्त अंगों का प्रयोग आज भी उपलब्ध है। (परांजपे 292)

भरत के पूर्वरंग की पूरी विधि पूर्णरूप से संगीतमय थी। ध्यातव्य है कि संगीत में नैसर्गिक आह्लादकारक गुण होता है और चित्त को आत्मनिष्ठ करने की ग़ज़ब क्षमता होती है। पूर्वरंग में होने वाले श्रवण-मनोहर, गायन-वादन और आकर्षक नृत्य के जरिए सामाजिकों में उत्सुकता उत्पन्न करना यह दूसरा उद्देश्य था। संगीतमय वातावरण के द्वारा सामाजिक का चित्त प्रयोज्य नाटक के प्रति सम्मोहित हो जाय यह तीसरा उद्देश्य था। चौथा उद्देश्य था प्रेक्षक की हृदयग्रंथि का भंजन। अभिनवगुप्त ने सच कहा है–

'स्वगतक्रोध - शोकादिसंकटहृदयग्रंथिभंजनाय
गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता।'

अर्थात प्रेक्षक के भीतर जो क्रोध, शोक इत्यादि की हृदयग्रंथि है उनके भंजन के लिए भरतमुनि ने गीतादि की प्रक्रिया रची थी। (मेहता, 59-60)

पूर्वरंग के विषय में कहा गया है कि चूँकि यह रंगमंच पर नाट्य-प्रयोग के समय सर्वप्रथम किया जाता है अतएव इसे पूर्वरंग कहते हैं। (शास्त्री,

153) पूर्वरंग के 19 अंग माने गये हैं। इनमें से नौ अंग तो पर्दे के पीछे रंगशीर्ष पर वीणा और मृदंग की आदि की संगति के साथ प्रयुक्त किये जाते थे। शेष दस यवनिका के हटाए जाने पर रंगपीठ पर (नृत्य और पाठ्य का संयुक्त प्रयोग) गीत और वाद्य के साथ प्रयुक्त किया जाता था। (मेहता 60) इनमें यवनिका के अभ्यंतर से वाद्यनियोजित तथा गीत से सम्बद्ध जो क्रिया-कलाप किया जाता था उसे 'बहिर्गीत' अथवा 'निर्गीत' कहा जाता था। (परांजपे 288)

बहिर्गीत के अन्तर्गत निम्न नवक्रियाएँ थीं–प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रावणा, वक्त्रापाणि, परिघटना, संघोटना, मार्गसारित व आसारित। साथ ही पर्दा खुलने व उसके बाद की क्रियाएं निम्न थीं–गीताविधि, उत्थापना विधि, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत व प्ररोचना। इन तमाम पूर्वरंग के अंगों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

प्रत्याहार–प्रत्याहार में रंगमंच पर विभिन्न वाद्ययंत्रों को उचित स्थानों पर व्यवस्थित किया जाता था। (शास्त्री 155) इसे कुतप विन्यास कहा जाता था। 'कुतप' एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है गायक, गायिका और वाद्ययंत्र। 'कुतपविन्यास' का अर्थ है गायक-वादकों को अपने वाद्यों के साथ निर्धरित स्थान पर बिठाने की व्यवस्था। इसका क्रम इस प्रकार है–नेपथ्य द्वार पर पूर्व की ओर मुंह करके मृदंग वादक, उसकी बायीं ओर पणव वादक (ढोल जैसे वाद्य के बजाने वाले) रंगपीठ के दाहिनी ओर उत्तर की ओर मुँह किए हुए गायक तथा इसी के आगे दक्षिण की ओर मुंह किए हुए गायिकाएं बैठती हैं। गायकों के बायीं ओर बाँसुरीवादक (वैणिक) बैठता है। (शास्त्री 155)

'अवतरण' में गायक और गायिका रंगमंच पर अपना निर्धरित स्थान ग्रहण करते थे। 'आरम्भ' में आलाप के साथ गायन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती थी। आलाप गायन को परिगीत क्रिया कहते थे। (शास्त्री 155)

'आश्रावणा' में विभिन्न वाद्ययंत्रों के परस्पर संतुलन की क्रिया चलने लगती थी। इस अंग में आलाप के साथ वाद्ययंत्रों के स्वरों में एकरूपता लाना अर्थात आलाप की वाद्यों से संगत 'आश्रावणा' है। अभिनवगुप्ताचार्य ने वाद्ययंत्रों की ध्वनियों में ताल-लय के विषय या सम्बंध में मान (प्रमाण, कालमान) की दृष्टि से अवलोकन करना या सामंजस्य स्थापित करना आश्रावणा माना है। (शास्त्री 156) आशय यह है कि गान के आलापस्वरों की संगत करते हुए वाद्ययंत्रों की ध्वनियों की परीक्षा करना कि वे गाये जाने वाले गीत के अनुसार उचित स्थान पर मिलकर संगत कर रहे हैं या नहीं। ऐसा करने से कण्ठ तथा वाद्यों के स्वरों में संतुलन स्थापित हो जाता है।

सरल शब्दों में कहें तो वादन के पूर्व वाद्यों को मिलाकर एकरूपता लाना आश्रवणा विधि है। भरत ने इस विधि की उन्तीसवें अध्याय में सविस्तार चर्चा की है। विस्तार धातु के दो अक्षरों के बोल मंद्र और तार स्वरों के जोड़े में बजाकर देखना चाहिए। इसको निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. साऽ साऽ । सां सां
2. सां सां। साऽ साऽ
3. साऽ साऽ साऽ। सां सां सां।
4. सां सां सां। साऽ साऽ साऽ

'वक्त्रापाणि' में हाथों की अंगुलियों का संचालन शुरू हो जाता है। भरत के अनुसार वाद्यों का विभिन्न वृत्तियों (या स्थितियों) का वादन की दशा में ध्यान से पुनः (विभाग ज्ञान हेतु) सुनना 'वक्त्रापाणि' कहलाता है। (शास्त्री, 156-157) वक्त्रो का अर्थ है आरम्भ तथा पाणि का अर्थ है हाथ की अंगुलियाँ। अर्थात् जिसमें हाथ की अंगुलियों का वाद्यों के वादनार्थ संचालन होता है वह 'वक्त्रापाणि'। अभिनवगुप्त के अनुसार मुखज श्वास से बजने वाले वेणु (बाँसुरी) आदि वाद्यों से संगत करते हुए उनके स्वरूप का अनुसंधान कर दक्षिण आदि वृत्तियों के विभाग को ध्यान से सुनना या उनका अन्वेषण कर परीक्षा करना 'वक्त्रापाणि' है।(शास्त्री 157) यह विधि दो खण्डों की है। 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार वे खण्ड इस प्रकार है–

प्रथम खण्ड - 5 गुरु , 6 लघु, 6 गुरु, 2 लघु - कुल 19 अक्षर।

द्वितीय खण्ड - 4 गुरु, 3 लघु, 1 गुरु, 8 लघु - कुल 16 अक्षर। (मेहता, 64)

'परिघटना' में वीणा आदि तन्तुवाद्य भी मुखर हो उठते थे। (शास्त्री, 157) तंत्री वाद्य की ज्या के घट्टन या वर्णन के द्वारा वृत्तियों के विभागों में शुष्क अक्षर प्रयोग (गति या धुन) का अन्वेषण या सारणा करना 'परिघट्टना' है। अर्थात् स्वरों का वह प्रयोग जो अर्थहीन या शुष्काक्षर प्रयोग है या शुद्ध स्वरमूलक प्रयोग करना भी शुष्काक्षर कहलाता है। तंत्री को स्वर में बजाने के लिये अंगुलियों का घटन या चालन आवश्यक है तथा उसे गतिशील व ओजपूर्ण बनाने के लिये इस चालन क्रिया को और अधिक तीव्र कर देना 'परिघट्टना' है। (शास्त्री, 157) संगीत शास्त्रावेत्ता शारंगदेव का कहना है कि इसमें करण धातु के भेद चित्रित, ललित, सुकुमार, स्निग्ध, मिश्रित करलाघव से वीणा के तार बजाये जाते हैं। इसके शुष्क गीत में 8 गुरु, 24 लघु, 2 गुरु, 16 लघु और अन्त में एक गुरु अक्षर होते हैं। (मेहता, 64)

'संघोटना' में ताल और अवनद्ध वाद्यों के साथ भाण्डारिका का भी वादन होने लगता था। हाथों से वाद्यों पर प्रहार कर उन्हें फिर (ठीक करने पर) सुनना 'संघोटना' कहलाता है। (शास्त्री, 157) तात्पर्य यह है कि वीणा वाद्य में अवनद्ध जैसे तालात्मक वाद्यों के साथ संगत बैठाने के लिये संवादी स्वरों के अनुसंधान के द्वारा पंच प्रहारों का प्रयोग करते हुए सुनना 'संघोटना' कहलाता है। 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार इसमें शुष्काक्षरों का गीत इस प्रकार का होता है–

1 गुरु, 8 लघु 2 गुरु, 1 लघु, 1 गुरु, 12 लघु, 1 गुरु (मेहता 64)

'मार्गसारित' में सभी वाद्य-यंत्रों से समवेत ध्वनि उठने लगती थी। (शास्त्री 157) तंत्री (वीणा) आदि तंत्री वाद्यों के साथ-साथ पुष्कर,

भाण्ड आदि अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग या वादन 'मार्गसारित' कहलाता है। 'अभिनवगुप्त' के अनुसार बाँसुरी के शरीर स्वरों (कण्ठ स्वरों) के साथ वीणा (आदि काष्ठनिर्मित) तंत्री वाद्यों के सम्मिलित स्वरों को उठाना तथा इसके पश्चात अवनद्ध वाद्य–पुष्कर, भाण्ड आदि के द्वारा उसका अनुवर्तन या अनुकरण होना अर्थात् वाद्य यंत्रों के सम्बन्धी मार्गों का पुष्कर आदि वाद्यों के द्वारा संगत या अनुकरण करना 'मार्गसारित' है। (शास्त्री, 158) 'संगीत रत्नाकर' के अनुसार मार्गसारित विधि का शुष्काक्षर गीत निम्न प्रकार का होता है–

4 गुरु, 8 लघु, 2 गुरु, 8 लघु, 1 गुरु, 1 लघु । (मेहता 64)

'आसारित' शम्या आदि क्रियाओं के द्वारा कलाओं के पात या पतन काल की गिनती करने (जिससे विभाग स्पष्ट हो जाए) की क्रिया सम्पन्न होती थी। (शास्त्री 158) भानुशंकर मेहता के अनुसार ये भी शुष्काक्षर गीत होते थे जो कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ तीन प्रकार के ताल में गाये जाते हैं। (मेहता 65) पूर्वरंग के ये सभी व्यापार गायन, वादन और नृत्य के ये समन्वित प्रदर्शन नाट्य-व्यापार की बड़ी ही मनोरम पृष्ठभूमि बना देते थे और तब यवनिका उठती थीं। (मिश्र 93)

उक्त सभी कार्यव्यापार रंगशीर्ष पर घटित होती थी। अब रंगपीठ पर नाटक का प्रारंभिक कार्यक्रम प्रस्तुत होता है। जिसमें सबसे पहले 'गीताविधि' की चर्चा है।

गीताविधि में देवताओं की प्रशंसा के गीत आते हैं। (शास्त्री 158) यह गीताविधि वर्धमान प्रक्रिया से प्ररम्भ होती है। इसमें देवताओं की प्रशंसा में प्रस्तुत किये हुए गान होते हैं। वर्धमान का अर्थ है 'बढ़ते हुए जाना'। पहले रंगभूमि पर एक नर्तकी हाथ में पुष्प लिए हुए नाचती हुई आती है। यह गीत का प्रथम चरण गाती है और नाचती हुई इसके भाव का अभिनय करती है। इसके अनन्तर वह पीछे जाती है। अब दूसरी नर्तकी पहली की तरह हाथ में पुष्प लिये हुए रंगभूमि पर नाचती है, अभिनय करती है और पीछे जाती है। तदन्तर तीसरी नर्तकी हाथ में पुष्प लिये हुए रंगभूमि पर आती है और गीत का तीसरा चरण गाती है। अब तीनों मिलकर नाचती हैं और अभिनय करती हुई पीछे जाती हैं। इसके अनन्तर चौथी नर्तकी पूर्ववत् हाथ में पुष्प लिये हुए रंगभूमि पर आती है और गीत का चैथा चरण गाती है। चारों मिलकर नाचती और गीत का अभिनय करती हुई वापस जाती हैं। इस विधि में एक-एक नर्तकी बढती जाती है, गीत का एक-एक चरण बढ़ता जाता है। प्रत्येक नर्तकी की नाचने की लय भी अनुक्रम से बढ़ती जाती है। इसलिये इस बढ़ने वाली विधि को वर्धमान विधि कहते हैं। (मेहता 65-66)

'उत्थापना' गीताविधि के तुरन्त प्रारम्भ होने वाली क्रिया है। भरत इस विषय में कहते हैं–

यस्मादुत्थापयन्स्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः।
पूर्वमेव तु रंगे अस्मिंस्तमादुत्थापनं स्मृतम्।।

(शास्त्री 158)

यह विधि नान्दी पाठकों के द्वारा सर्वप्रथम रंगमंच का कार्य प्रारंभ करवाती है इसलिए इसे 'उत्थापना' कहते हैं। इसमें एक विशिष्ट वृत्त गीत, चतुरस्र तिस्र ताल में और विलम्बित, मध्य और द्रुत लय में गायक-वृन्द द्वारा गाया जाता है। मध्यलय में गान चलते रहने पर सूत्राधर रंगभूमि पर आता है। उसके दोनों ओर पारिपार्श्विक रहते हैं। उनमें से एक के हाथ में 'जर्जर' होता है और दूसरे के हाथ में भृंगार (सोने की सुराही)। 'जर्जर' 108 अंगुल लम्बा 5 पोर के बांस का एक दंड (डंडा) होता है। इसके बिल्कुल नीचे का पोर भिन्न प्रकार के रंगों के वस्त्र से लपेटा हुआ रहता है। नीचे से दूसरा पोर लाल, तीसरा पीले, चैथा नीले और सबसे ऊपर का पोर श्वेत रंग के वस्त्र से लपेटा रहता है। इसके ऊपर के भाग पर तीन जगह वक्र-दण्ड-काष्ठ रहते हैं। इनके ऊपर बेल फल को काटकर तैयार किये हुए मनुष्य की मुखाकृति, मुकुट से अलंकृत कर रखी हुई रहती है। (मेहता 67-68)

सूत्रधार और दोनों पारिपार्श्विक एक साथ ही रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। इनकी हस्तान्जलियाँ पुष्पों से पूरित होती हैं। वे अद्भुत दृष्टि और वैष्णवस्थान से युक्त होते हैं।

सूत्राधर दोनों पारिपार्श्विकों के साथ पांच डग भरते हुए आगे बढ़ता है। गायक-वृन्द द्वारा गीत शुरू रहता है। गीत का आरम्भ विलम्बित लय में हाता है। यह प्रथम परिवर्त कहलाता है। जब वह मध्य लय में होता है तो द्वितीय परिवर्त कहलाता है। इसी समय सूत्रधर रंगमंच पर आता है और गीत को द्रुत लय में गाकर तीसरा परिवर्त पूरा करता है। सूत्रधार रंगमंच के मध्य भाग में अधिष्ठातित ब्रह्ममण्डल पर पुष्पांजलि अर्पित करता है। वह ब्रह्मा की विनीत भाव से ललित हस्त मुद्रा से वन्दना करता है। यह वन्दना पृथ्वी को हाथों से तीन बार स्पर्श करते हुए की जाती है। तीसरे परिवर्त में सूत्राधर ब्राह्म-मण्डल की प्रदक्षिणा करता है, आचमन करता है और 'जर्जर' को ग्रहण करता है। यह विधि में जर्जर इसलिए कहलाता है क्योंकि यह विघ्नों को जर्जरित कर देता है। यह तृतीय परिवर्त भी द्रुत लय में होना चाहिए। जर्जर ग्रहण करने के पश्चात् वह संगीत-वाद्यों के स्थान की ओर पांच डग चलता है। इस में गीतकों और वर्धमानक के पश्चात् उत्थापिनी ध्रुवा गाई जाती है। (मेहता 67-68) प्रथम परिवर्त में बिलम्बित लय के प्रयोग की हिमायत की गयी है। भरत कहते हैं कि द्वितीय परिवर्त में मध्य लय प्रयुक्त करना चाहिए जो सूत्ररधार के प्रवेश से आरंभ होता है तथा ब्रह्मदेव की वंदना पर समाप्त होता है। चतुर्थ परिवर्त में द्रुत लय के प्रयोग का विधान किया गया है। (शास्त्री 175-176)

उत्थापिनी ध्रुवा में 11 अक्षर होते हैं और दूसरा चौथा तथा ग्यारहवां अक्षर गुरु होता है। इसमें चार पाद होते हैं और 'चौताल' का प्रयोग होता है। इसमें चार सन्निपात (सशब्द क्रिया का भेद जिसमें दोनों हाथों से ताली बजाकर ताल दी जाती है) तथा तीन प्रकार की लय (द्रुत, मध्य तथा विलम्बित) होती है। यह तीन यतियों (समा, स्रोतोवहा व गोपुच्छा) से युक्त होती है। (शास्त्री 169)

'परिवर्तन' माने लोकपालों की चारों ओर घूमकर वन्दना करना। इस विधि में 'परिवर्तनी ध्रुवा' गायी जाती है। 'परिवर्तनी' ध्रुवा चतुरस्रताल, मध्य लय तथा आठ सन्निपातों से युक्त हाती है। इसमें अतिजगती जाति (एकादशाक्षर जाति का छंद) रहती है, अंतिम वर्ण गुरु होता है तथा चारों पादों में शेष सभी वर्ण लघु रहते हैं। (शास्त्री 176-177)

मात्राओं की गणना इस प्रकार है–

ऽ ऽ I ऽ I I I ऽ I ऽ I I I ऽ ऽ

परिवर्तनी ध्रुवा गाते समय सूत्रधार वाद्यध्वनि और ताल के अनुसार (वार्तिक मार्ग से जिसका अर्थ होता है एक पदभाग का चार मात्राओं से निर्माण) ललित पाद विन्यास करते हुए यथाक्रम दिशाओं के अधिपतियों का नमस्कार करता है। (शास्त्री 177)

परिवर्तनी ध्रुवा के अनंतर ही अवकृष्टा ध्रुवा का गान होता है। (शास्त्री 177)

यह चतुरस्र ताल और विलम्बित लय में गायी जाती है। इस ध्रुवा में मात्राओं की गणना इस प्रकार है–

I I ऽ I I ऽ I I ऽ I ऽ I I I ऽ ऽ (मेहता 69)

भरत का निर्देश है कि इस समय किसी गीत का गान न किया जाए केवल वाद्यवादन ही रहे और गान भी केवल अर्थहीन अक्षरों (शुष्काक्षरों अथवा स्तोभाक्षरों) का ही हो। (परांजपे 291)

परिवर्तनी ध्रुवा के बाद 'नान्दी' को भरत ने बहुत महत्त्व दिया है। इसमें देव, द्विज तथा भूपालों की आशीर्वचन-समन्वित स्तुति की जाती है अतएव इसे 'नान्दी' संज्ञा दी गयी। इसका पाठ मध्यम स्वर में होता है व इसमें आठ या बारह पद होते है। (परांजपे 291) नान्दी के अनन्तर जर्जर की स्तुति को निर्देशित करने वाली शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के गान का विधान है। शुष्कावकृष्टा ध्रुवा के विषय में कहा गया है कि जब 'अवकृष्टा' ध्रुवा का अर्थहीन ध्वनि में (अक्षरमात्र के प्रतिध्वनन या कर्षन द्वारा) संयोजन किया जाता है तब उसे ही शुष्कावकृष्टा ध्रुवा कहा जाता है। (शास्त्री 180) इस शुष्कावकृष्टा ध्रुवा में आदि के 9 वर्ण गुरु, फिर 6 वर्ण लघु तथा अंतिम 3 वर्ण गुरु होते हैं। इसका आठ कला का परिमाण होता है। इसका स्वरूप कुछ इस प्रकार का होगा–

दि	ग्ले	दि	ग्ले	झ	ष्टू	झ	ष्टू	ज	म्बू	क	प	लि	त	क	ते	ते	चाम्
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	I	I	I	I	I	I	ऽ	ऽ	ऽ

(मेहता 69)

इसमें चार पादों तथा दस अक्षरों वाली पंक्तियाँ होती हैं जिसमें चतुर्थ, पंचम, सप्तम तथा अष्टम वर्ण लघु होता है। तदोपरांत नान्दी पाठ की योजना है और निर्देश है कि 'सूत्रधार मध्यम स्वर से नान्दी पाठ करे। यह नान्दी आठ या बारह पद वाली होनी चाहिए। नान्दी पाठ के बाद शुष्कावकृष्टा ध्रुवा का गान किया जाना चाहिए। इस ध्रुवा में आदि के 9 वर्ण गुरफ, पिफर 6 वर्ण लघु तथा अंतिम 3 वर्ण गुरफ होता है। इस प्रकार यह कुछ इस तरह होगा–

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ I I I I I I ऽ ऽ ऽ

यवनिका उठने के बाद सम्पन्न होने वाले तमाम क्रिया-कलापों में हम पाते हैं कि भरत एवं उनके परवर्ती आचार्यों ने नान्दी पाठ को विशेष महत्त्व दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि यह सभी को प्रसन्न करने हेतु किया गया व्यापार है। नांदी की परिभाषा को ही लें–उसमें देव, द्विज और नृप के बाद जो आदि शब्द है उसमें संदेश है कि नान्दी पाठ में अर्थपति तथा अन्य संरक्षकों के शुभाशीष की याचना की जाती थी। यह व्यापार सामाजिकों को आनन्दित भी करता था। इसी आधार पर उसकी नान्दी संज्ञा सिद्ध मानी गयी है। भरत ने नान्दी पाठ की इस अनिवार्य संयोजना द्वारा देव, द्विज, राजा, कवि, प्रयोक्ता और प्रेक्षक सभी का प्रसन्न होना स्वीकार किया है। संभवतः इसी व्यापक प्रभाव के कारण उन्होंने नान्दी को 'पूर्वरंग' का सर्वाधिक उपयोगी अंग माना है तथा उसके अनिवार्यतः प्रयोग का निर्देश दिया है। (मिश्र 94)

इसके बाद रंगद्वार का प्रावधान है। पूर्वरंग विधि में 'रंगद्वार' संज्ञा उस क्रिया के लिये है, जिसमें वाचिक तथा आंगिक अभिनय का सर्वप्रथम प्रयोग किया जाता है। (परांजपे 291) रंगद्वार में सूत्राधर देव, राजा और ब्राह्मण का स्तुतिपरक श्लोक पढ़ता है। वह जर्जर श्लोक के पाठ के पश्चात पुनः जर्जर के यशप्रकाशक एक दूसरे श्लोक का पाठ करता है। (मेहता 69)

रंगद्वार के बाद चारी का प्रावधन है। शृंगार रस के भावों को गति के द्वारा प्रदर्शित करना चारी कहलाता है। (शास्त्री 161) निर्देशित है कि तभी पश्चिम की ओर से दोनों पारिपार्श्विक रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ और अंगिता ध्रुवा का मध्यलय, चतुरस्रताल (चौताल) तथा चार सन्निपातों से युक्त गान (प्रयोग) आरंभ हो जाए। इस अंगिता ध्रुवा में प्रथम, पंचम तथा अंतिम वर्ण गुरु तथा शेष वर्ण ह्रस्व होते हैं तथा इसके चारों पादों में बारह वर्ण होते हैं। (शास्त्री 184)

अभिनव गुप्त लिखते हैं कि अंगिता ध्रुवा का प्रयोग कुछ आचार्य 'रंगद्वार' में 'चारी' के साथ मानते हैं। अन्य विद्वान रंगद्वार के सान्निध्य के कारण रंगद्वार में 'अवकृष्टा' का प्रयोग मान्य करते हैं (अंगिता का नहीं या अंगिता को भी अवकृष्टा ही मानते हैं)। वहीं कुछ अन्य विद्वान रंगद्वार में ध्रुवा का प्रयोग ही स्वीकार नहीं करते हैं। इस तरह इस सन्दर्भ में पर्याप्त मत-मतान्तर रहे।

अंगिता का अन्य स्वरूप अभिनवगुप्त ने इस प्रकार बतलाया–

'आद्यं' चतुर्थ दशममष्टमैकादशे तथा।
गुरफणि दोध्के या स्यादङ्गिता नाम सा स्मृता॥

अर्थात् दोधकवृत्त से पाद में जब प्रथम, चतुर्थ, अष्टम, दशम और एकादश संख्या के अक्षर गुरु तथा शेष अक्षर लघु रहें तब उसे उसे 'अंगिता' ध्रुवा समझना चाहिए। (यह लक्षण भरत से भिन्न है। यहाँ भिन्नता यह है कि भरत के मत से 'अंगिता' जाति है तथा अन्य आचार्य के मत से (जो अभिनव ने उद्धृत किया है) वह वृत्त होती है)

अंकिता ध्रुवा की मात्राओं का क्रम इस प्रकार है–

ऽ I ऽ I I ऽ I I I I I S

(मेहता 70)

चारी के प्रस्तुतीकरण के पश्चात् सूत्राधर जर्जर को पारिपार्श्विक के हाथ में देकर महाचारी प्रस्तुत करता है। रौद्ररस के भावों को गति द्वारा प्रदर्शित करना महाचारी कहलाता है। इसमें चतुरस्रा ध्रुवा का गान होता है। चतुरश्रा ध्रुवा में चतुरस्र ताल और द्रुत लय का प्रयोग होता है। इसमें 4 सन्निपात और 8 कलाएं होती हैं। इसका प्रत्येक पाद 19 अक्षर का होता है जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अंतिम वर्ण गुरु होता है एवं शेष वर्ण लघु होते हैं। इसके मात्राओं का क्रम इस प्रकार है–

ऽ I I ऽ I I ऽ I I ऽ ऽ

(शास्त्री 186)

इसके उपरांत सूत्राधर पुनः रौद्र-रस श्लोक का पाठ करता है और फिर तीन कदम आगे बढ़ते हुए वह अपने दो पारिपर्श्विकों को बुलाता है। उनके आने पर वह नर्कुटक ध्रुवा का गान करता है। ध्रुवागान के समय सूत्राधर को चाहिए कि वह बाएं पैर से सूची अर्थात् चारी व दाहिने से विक्षेप का भी प्रदर्शन करे।

महाचारी के बाद त्रिगत प्रारम्भ होता है। जहाँ सूत्राधर, पारिपार्श्विक तथा विदूषक का पारस्परिक 'आलाप' हो वह त्रिगत कहलाता है। इसमें तीन पात्र अर्थात् सूत्राधर, पारिपार्श्विक और विदूषक कथावस्तु के सम्बंध में सामाजिकों में कौतूहल जगाने के लिए बातचीत आरम्भ करते थे। इसमें विदूषक बहुत सी हंसाने वाली बातें करता है और नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करता है। (मेहता 171)

त्रिगत के बाद प्ररोचना विधि की बारी आती है। इसमें सूत्राधर प्रेक्षकगण को नाटक देखने हेतु आमंत्रित करता है (स्वागत करता है) और खेले जाने वाले नाटक की विषय-वस्तु का निरूपण करता है। प्ररोचना विधि के बाद तीनों पात्र चारी का प्रदर्शन करते हुए मंच से चले जाते हैं।(शास्त्री 189)

भरत ने पूर्वरंग के दो स्वरूपों की चर्चा की है। एक स्वरूप वह जो नृत्य आदि के प्रयोग के बिना था और दूसरा वह जिसमें शिव की सलाह से नृत्य आदि अंगहारों का भी प्रयोग किया गया। पहले को 'शुद्ध पूर्वरंग' की संज्ञा दी गयी और दूसरा 'चित्र पूर्वरंग' कहलाया।

भरत 'चित्र पूर्वरंग' के संदर्भ में कहते हैं कि 'उत्थापनी ध्रुवा के प्रदर्शित हो जाने, 'परिवर्तन' ध्रुवा में चतुर्थ पात्र के मंच पर प्रवेश कर पुष्पों को प्रदान कर चुकने और संगीत-निपुण गन्धर्वजन द्वारा लक्षणयुक्त उदात्तगीतों के गाये जाने पर बार-बार देव-दुन्दुभियों का नाद करना चाहिए और फिर श्वेद वर्ण की कुसुममालाओं को रंगमंच पर चारों ओर बिखेरते हुए देवियों का वेश धरण किए हुए नर्तकियां प्रवेश करें जो अंगहारों को प्रदर्शित करतीं हुई सामने नृत्य करें।

भरत ने पूर्वरंग के इन दो प्रकारों के अतिरिक्त उसके दो और विभेदों का भी निरूपण किया है। यथा 1. चतुरश्र 2. त्रयस्र। उपरोक्त पूर्वरंग के सारे भेद-विभेद वर्ण चतुरस्र पूर्वरंग के ही थे किंतु त्रयस्र पूर्वरंग के भी उतने ही भेद-विभेद हैं अंतर केवल ताल के प्रमाणों का है। चतुरस्र पूर्वरंग में, हस्त और पाद कला के, कला, काल और लय के आधार पर 16 पात्र माने गये हैं और त्रयस्र में उनकी संख्या घटकर केवल 12 रह गयी है। इसका कारण यह है कि संभवतः 'चतुरस्र रंगमण्डप में रंगस्थल काफी विस्तृत रहा होगाः अतः उसमें पूर्वरंग की विभिन्न क्रियाएं काफी विस्तार के साथ प्रदर्शित होती रही होंगी। लेकिन त्रिभुजाकार रंगस्थल छोटा रहता होगा इसलिए उस पर क्रियाओं की संख्या कम कर दी जाती होगी। सबसे बड़ा रंगमंच जिसे विकृष्ट कहा गया है, आयताकार होता था; उसमें भी प्रदर्शन के लिए, चतुरस्र रंगमण्डप जैसी विस्तृत रंगस्थली रही होगी, इसलिए उस पर भी चतुरस्र 'पूर्वरंग' की ही व्यवस्था होती रही होगी, ऐसा कहा जा सकता है। (मिश्र 96)

इसके बाद 'आश्रावणा' का प्रयोग करना चाहिए यह आश्रावणा देवता, भूप तथा रंग के आशीर्वचन से युक्त होती है तथा यह कथावस्तु की प्रतीति की उत्पादक होती है। (शास्त्री 198)

इस प्रकार वर्णित विधि के अनुसार 'पूर्वरंग' का प्रयोग हो चुकने के बाद सूत्राधर के समान गुण एवं आकृति वाला स्थापक रंगमंच पर प्रवेश कर प्रस्तावना करे। उसके मंच पर प्रवेश के समय अर्थानुगामिनी ध्रुवा का गान किया जाए और यह गान त्रयस्र या चतुरस्र ताल में एवम् मध्य लय में रखना चाहिए। इस तरह रंगस्थ प्रेक्षकों का मनोरंजन कर चुकने पर वह नाटक लेखक का नाम घोषित करे और फिर नाटक की कथावस्तु को निर्देशित करने वाली प्रस्तावना प्रारम्भ करे। (शास्त्री 199-200)

भरत का यह कथन कि प्रेक्षकगण का मनोरंजन करने के उपरांत ही नाट्य-प्रयोक्ता नाटककार का नाम बताए और नाटक की प्रस्तावना भी करे अपने आप में इस बात का द्योतक है कि नाटक के पूर्व का सम्पूर्ण व्यापार दर्शक के मन को मनोरंजित कर नाटक के लिए मानसिक तौर पर तैयार करने का है। एक तरह से यह उसका मानसिक 'वार्म-अप

सेशन' है। स्पष्ट है कि पूर्वरंग के अंतर्गत प्रयुक्त होने वाले संगीत का उद्देश्य गायक तथा वादक को प्रयोग के लिये सज्जा करना है। इस सज्जता से मुख्य प्रयोग तक गायक का कण्ठ तथा वादक की अंगुलियां कार्यक्षम होती हो, इसमें सन्देह नहीं। प्रेक्षकों की एकाग्रता के लिये आधुनिक काल में भी प्रयोगारम्भ से पूर्व वाद्यसंगीत तथा चित्रपट-संगीत की ध्वनिमुद्रिकाओं के वादन की प्रथा है। (परांजपे, 292) इसमें मनोरंजन हेतु गीत और संगीत की तमाम विधाओं को व्यवहृत करने का निर्देश है। इतना ही नहीं इस पर इतनी विस्तार और गहराई से चर्चा है कि कभी-कभी लगता है कि सम्पूर्ण नाटक-तंत्र गीत और संगीत से आच्छादित है। किंतु यह सोचना गलत है क्योंकि जैसे तुलसी 'रामचरितमानस' में राम के अलौकित्व की ढेर सारी बातें कर लेने पर आचानक से उनके लौकिक स्वरूप की कोई बात कर उन्हे देवत्व से मनुष्यत्व के धरातल पर ले आते हैं उसी तरह ज्योंही ये लगने लगता है कि भरत संगीत के अमूर्त जादू से आवेशित हैं त्योंही वे गीत और संगीत की मात्रा और प्रमाण पर ऐसा निर्णायक वाक्य बोल देते हैं कि तमाम शंकाएं निर्मूल हो जाती हैं। अपने संपूर्ण पूर्वरंग विधन को गीत, संगीत और नृत्य से आच्छादित करने के साथ ही भरत की स्पष्ट सलाह है कि "इन पूर्वरंगों में अधिक गीत तथा नृत्य (नृत्त विधि) की योजना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यदि ये गीत तथा नृत्य देर तक चलते रहेंगे तो प्रयोक्तागण को थकाने तथा प्रेक्षकों को उबा देने वाले होंगे, फिर खिन्न व्यक्तियों (अभिनता तथा प्रेक्षक वर्ग) को रस तथा भावों की स्पष्टतापूर्वक प्रतिपत्ति नहीं होगी और इस प्रकार आगे प्रस्तुत किये जाने वाले नाट्य प्रयोग की रंजकता न रह पाएगी।" (शास्त्री 197)

पूर्वरंग विधान का जो स्वरूप भरत ने खड़ा किया है वह एक प्रकार से भारतीय रंगमंच की अपनी जातीय पहचान है। यह मुख्यधरा या यों कहें कि शिष्ट कहे जाने वाले नाटकों के साथ ही लोक नाटकों में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। अपनी पुस्तक 'परम्पराशील नाट्य' में जगदीशचन्द्र माथुर ने पूर्वरंग के लोक नाट्यों में मौजूद रूप को उद्घाटित किया है। उनके अनुसार भरत के नाट्यशास्त्र के समय से आजतक पूर्वरंग की परम्परा आंचलिक रंगमंच में जिस तरह प्रवाहित होती रही है, वह निश्चय ही आश्चर्य का विषय है। (माथुर 96) भरत ने रंगपूजन और पूर्वरंग का जो भेद किया है, वह आंचलिक नाट्यों में स्पष्ट तो नहीं है फिर भी उसमें कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अभी तक मौलिक रूप से दृष्टिगत होती हैं। (माथुर 96-97)

पूर्वरंग विधान के वर्णन और उसकी तमाम व्याख्याओं से यह तो स्पष्ट है कि यह भारतीय रंगमंच कि जातीय पहचान को निर्धारित करने वाली नाट्य विधि है जिसका सम्यक अध्ययन सभी नाट्य विद्यार्थी, शिक्षकों और चिंतकों को करना ही चाहिए किन्तु यह देखना और समझना भी आवश्यक है कि वर्तमान में इस विधान की अवस्थिति क्या है और यह किन नाट्य रूपों एवं शैलियों में किन रूपों में आज भी व्याप्त है।

केरल के कुटियाट्टम् में पहले मृदंग वादन होता है, तदुपरांत नान्दी श्लोक के बाद मंच पर पवित्र जल छिड़का जाता है, उसके बाद सूत्राधर विशेष भंगिमा में नृत्य करते हुए रंगस्थली पर जाता है और कुछ पदों का पाठ करता है। इसके बाद मुख्य वस्तु की स्थापना होती है।

असम के अंकिया नाट में प्रारम्भ में मृदंग वादन होता है। गुजरात के भवई में आरम्भ में गणपति की पूजा होती है। 'संगीत' और 'विदेसिया' में सरस्वती, दुर्गा और गणेश तीनों की स्तुति होती है। कश्मीर का 'भांडजश्न' यद्यपि मुसलमान-कलाकारों द्वारा खेला जाता है तथापि संस्कृत मंत्रों की नकल में कुछ पूजापाठ अवश्य होता है। नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय के 134वें श्लोक में कहा गया है कि सूत्राधर और पारिपर्श्विक नान्दी पाठ के उपरांत एक दूसरे से बातचीत प्रारम्भ करें, तभी विदूषक अकस्मात उपस्थित होकर बे-सिर-पैर की बात छेड़ दे, जिसे सुनकर दोनों का हँसी आ जाए। पूर्वरंग में इस तरह तीन व्यक्तियों का परस्पर संवाद 'त्रिगत' कहलाता है और कुछ ऐसी ही परिपाटी बिहार के पूर्णिया जिले के 'विदापद नाच' में आज भी विद्यमान है। वहां भी प्रस्तावना के समय विदूषक इसी भांति उल्टे अर्थ वाली बात छेड़ देता है। हिमाचल के 'करियाला' की प्रस्तावना में विदूषक एक स्त्री-पात्र के साथ नाचता हुआ उपस्थित होता है। नाट्यशास्त्र में सूत्राधर द्वारा मंच पर पवित्र जल छिड़कने का विधान है। मध्य प्रदेश में नाच के प्रारम्भ में एक भिश्ती आता है और अपने वंश की कथा कहने के बाद मशक से जल छिड़कने का अभिनय करता है। पूर्वरंग में प्रस्तावना के रूप में नाटक की विषय-वस्तु सम्बन्धी प्रस्तावना सूत्राधर और नटी के संवाद के रूप में होती है। उत्तर कर्नाटक के 'दोड्डाता' में यही संवाद प्रधान गायक, यानी भागवत और सारथी के बीच होती है। नाटक की घोषणा जिसे नाट्यशास्त्र में प्ररोचना कहा गया है , को भी उत्तर प्रदेश के मुज़फ़्फ़र नगर की 'नकल' शैली में देखा जा सकता है जिसमें प्रमुख पात्र एक-एक करके अपना परिचय देते हैं और तदुपरांत खलीफा सम्पूर्ण नाटक की विषय-वस्तु का परिचय देता है।

निष्कर्ष

समग्रतः भरत कृत पूर्वरंग विधान के समवेत अध्ययन के बाद समाहार रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा अत्यंत प्राचीन और समृद्ध है, जिसमें भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र एक मूल ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित है। इस ग्रंथ में वर्णित पूर्वरंग विधान नाटक के मंचन से पूर्व की जाने वाली शुद्धिकरण, स्तुति, संगीत और अभिनय संबंधी क्रियाओं का विस्तृत विवरण है। इसका उद्देश्य केवल नाटक का शुभारंभ करना नहीं, बल्कि मंचन को एक पवित्र, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अनुष्ठान के रूप में स्थापित करना है। पूर्वरंग नाटक की आत्मा को जागृत करता है और दर्शकों को भावनात्मक व मानसिक रूप से प्रस्तुत कला अनुभव के लिए तैयार करता है। इसमें नाट्येश्वर वंदना, पात्र प्रवेश, संगीत, नृत्य, और अन्य 12 अंगों की रचना होती है, जो मंच, अभिनेता और दर्शक—तीनों को एक सूत्र में बाँधते हैं। भरत के अनुसार, नाटक केवल मनोरंजन नहीं बल्कि समाज के चारों वर्गों के लिए ज्ञान, नीति और भावना का संवाहक है। पूर्वरंग, उस उद्देश्य की पूर्ति का प्रथम चरण है। यह रस निष्पत्ति की भूमिका रचता है, जहाँ

दर्शक की मानसिक अवस्था को स्थिर और ग्रहणशील बनाया जाता है। धार्मिक दृष्टि से यह विधान देवताओं का आह्वान करता है, जिससे नाटक एक यज्ञ रूप बन जाता है। तकनीकी दृष्टि से पूर्वरंग अभिनेता की तैयारी, वाद्य यंत्रों की ध्वनि-सज्जा, और मंच व्यवस्था का अंतिम परीक्षण है, जिससे प्रस्तुति की गुणवत्ता सुनिश्चित होती है। यह नाट्य कला को शुद्ध, अनुशासित और सुसंगठित बनाता है। इसके अतिरिक्त, पूर्वरंग भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और लोक परंपराओं का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें संगीत, नृत्य और वंदनाएँ सम्मिलित होती हैं। आज के रंगमंच में भले ही पूर्वरंग के शास्त्रीय स्वरूप का पालन न हो, पर इसकी अवधारणा आधुनिक मंचन की पूर्व तैयारी, अभ्यास और उद्घाटन क्रमों में स्पष्ट झलकती है। नाट्य विद्यालयों और शोध संस्थानों में इसका अध्ययन छात्रों को भारतीय रंग परंपरा की गहराई से परिचित कराता है और पश्चिमी रंगपद्धति से इतर एक मौलिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। भरत का पूर्वरंग विधान यह दर्शाता है कि भारतीय रंगमंच न केवल तकनीकी या भावनात्मक कला है, बल्कि एक दार्शनिक और आध्यात्मिक साधना भी है। अतः इसका अध्ययन समकालीन रंगकर्मियों और विद्यार्थियों के लिए न केवल एक शास्त्रीय परंपरा को जानने का साधन है, बल्कि उनके नाट्य दृष्टिकोण को व्यापक, समृद्ध और सांस्कृतिक रूप से सुदृढ़ बनाने का माध्यम भी है।

भरत का पूर्वरंग विधान केवल नाटक के आरंभ का चरण नहीं, बल्कि भारतीय नाट्य परंपरा की आत्मा है। इसमें धार्मिकता, सांस्कृतिकता, सौंदर्यशास्त्र, तकनीक और मनोविज्ञान का अद्भुत समन्वय है। इसका अध्ययन न केवल अतीत की समझ प्रदान करता है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के रंगमंच को भी समृद्ध करने की दिशा दिखाता है। यह विधान यह सिद्ध करता है कि नाटक केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक अनुष्ठान है, जिसमें मनुष्य आत्मा की गहराइयों तक पहुँच सकता है। पूर्वरंग विधान का अध्ययन नाट्य शिक्षण संस्थानों, विश्वविद्यालयों और शोध केंद्रों में भारतीय रंगमंच की मौलिकता को स्थापित करने में सहायक होता है। यह हमें भारतीय दृष्टिकोण से रंगमंच की संरचना, कार्यविधि और उद्देश्य समझने में मदद करता है। इसके द्वारा हम पश्चिमी नाट्य परंपराओं के समानांतर एक गहरी और आत्मीय परंपरा से परिचित होते हैं। इसलिए, भरत के पूर्वरंग विधान का अध्ययन भारतीय रंगकला के अध्ययन और अभ्यास दोनों के लिए अत्यंत आवश्यक और उपयोगी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. घोष, मनमोहन (सं) नाट्यशास्त्र, दि एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
2. जर्नल ऑफ़ मद्रास म्यूजिक एकेडमी, वॉल्यूम 25, म्यूजिक अकादमी ऑफ़ मद्रास, चेन्नई
   उद्धृत : परांजपे शरच्चंद्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, सं. 2015
3. शुक्ल, बाबूलाल, (सं.) श्री भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी सं. 2007
4. मेहता, भानुशंकर, भरतकृत नाट्यशास्त्रा तथा आधुनिक प्रासंगिकता, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं 1982
5. परांजपे, शरच्चंद्र श्रीधर, भारतीय संगीत का इतिहास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, सं. 2015
6. मिश्र, विश्वनाथ, भारतीय नाट्यशास्त्र और आज का रंगमंच, उत्तर प्रदेश हिन्दी संसथान, लखनऊ, सं. 1998
7. माथुर, जगदीशचंद्र, परम्पराशील नाट्य, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं. 1968